रवींद्रनाथ मिश्र

# मध्यवर्गीय नारी-जीवन : कुछ न कुछ छूट जाता है*

'तत्त्वमसि' के बाद 'कुछ न कुछ छूट जाता है' जया जादवानी का दूसरा उपन्यास है जिसमें मध्यवर्गीय नौकरीशुदा ऋतु की आपबीती कहानी है। इसे जादवानी ने विचार, भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से बिलकुल नए ढंग से गढ़ा है। लगभग सौ पृष्ठों के इस उपन्यास की कथा ऋतु के इर्द-गिर्द घूमती है। उसके पूर्व पति पंकज, पुत्री संजना, वर्तमान पति रवींद्र और सहेली मनीषा के आपस के संवादों के बीच कहानी समाप्त हो जाती है। इसमें नारी-मन के विभिन्न भावों और विचारों की परतों को लेखिका ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया है। इसके साथ ही उन्होंने जीवन के अनछुए तारों को भी झनझनाया है। मनुष्य जिंदगी में बहुत कुछ समेटना चाहता है, फिर भी कहीं न कहीं, कुछ न कुछ छूट ही जाता है। अत्याधुनिक युग में नई की दौड़ में पुरानी की कचोट बनी रहती है और इसी मकड़जाल में इंसान उलझ-पुलझ कर रह जाता है। इसी महत्त्वपूर्ण मुद्दे को पकड़कर जादवानी ने उपन्यास का ताना-बाना बुना है।

एक मध्यवर्गीय परिवार में जन्मी-पली-बढ़ी ऋतु अपनी विधवा माँ की सातवीं संतान है। वह घर की हालत और माँ की इच्छापूर्ति के लिए अपने से दस वर्ष बड़े पंकज के साथ, जोकि उसके बड़े भाई के कार्यालय में काम करता है, शादी के लिए 'हाँ' कर देती है। ऋतु बैंक में नौकरी करती है। वह चाहती तो शादी से मना भी कर सकती थी लेकिन उसने ऐसा नहीं किया; क्योंकि निम्न एवं मध्यवर्गीय भारतीय समाज में नारी की जिंदगी उसकी चाहतों से तय नहीं होती। शादी के पंद्रह दिनों के बाद दोनों मसूरी जाते हैं जहाँ पर उन्हें एक-दूसरे को शारीरिक और मानसिक रूप से जानने-पहचानने का अवसर मिलता है। पंकज को लगता है कि "देह सिर्फ यह नहीं जो बाहर से दिखाई देती है, देह के भतर एक अद्‌भुत जादुई दुनिया होती है, जो किसी तिलस्म की तरह खुलती है, जिसके रहस्यों को भेदने का बीड़ा उठाकर आप उसके भीतर जाते हैं और कभी बाहर नहीं आ पाते ···।" (पृष्ठ 37) यहाँ लेखिका ने नारी के देह आकर्षण का बड़ा सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

समय के साथ पंकज को अपनी शारीरिक अस्वस्थता एवं आंतरिक कमियों का पता चलता है। इसके बाद वह मन ही मन ऋतु की दूसरी शादी की बात सोचकर उसे शादी के लिए राजी भी कर लेता है। इतना ही नहीं, वह स्वयं समाचार-पत्र में शादी का विज्ञापन भी देता है, "और कालांतर में विधुर रवींद्र से अपनी पत्नी की शदी के लिए बात भी करता है।" एक-दूसरे को देखने के बाद ऋतु और मि. रवींद्र के अंदर रोमांस के वही भाव पैदा हुए जो औरत-पुरुष को तरुणाई में होते हैं, जहाँ मन कल्पना की ऊँची उड़ाने भरने लगता है और परिवार, समाज और परंपरा के सारे बंधन ढीले पड़ जाते हैं।

रोमांस के इन्हीं क्षणों में ऋतु विधुर रवींद्र की तरफ आकर्षित होती है लेकिन संजना के विषय में सोचकर सिहर उठती है कि वह क्या कहेगी? ऋतु इन उलझनों के बीच आखिरकार रवींद्र से कोर्ट मैरेज करती है लेकिन वह इस प्रकार की शादी से खुश नहीं है। यहाँ वह परंपरा के मोह से ग्रस्त होकर गाजे-बाजे, धूम-धड़ाके और विधिवत् मंत्रोचार के साथ शादी करना चाहती है; क्योंकि रजिस्टर पर दस्तखत की शादी कभी भी टूट सकती है। परंपरागत रूप से सोचा जाए तो सामाजिक विवाह भारतीय पारिवारिक संस्कृति की सुंदरताओं का अनुपम खजाना है, जोकि जीवन मूल्यों के मानवीय पक्ष को उजागर करता है। नई और पुरानी सोच के बीच उलझती हुई ऋतु कहती है कि "टूटने में एक क्षण से

* कुछ न कुछ छूट जाता है, ले. जया जादवनी, प्र. वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली, प्र.सं. 2004, क्राउन, पृ.सं. 92, मूल्य 100.00

भी कम वक्त लगता है। तब यह अग्नि भी आपको बचा नहीं सकती। सिर्फ यह जगह बदल लेती है। कभी बाहर जलती थी, फिर अंदर जलने लगती है। यूँ अगर एडवांस होकर सोचा जाए तो हम बगैर शादी के भी रह सकते थे।''

शादी होने के बाद ऋतु और रवींद्र दोनों अतीत को एक साथ जीते हैं जहाँ ऋतु को शादी के बाद रवींद्र में परफ्यूम के पीछे जानवर की गंध आती है वहाँ रवींद्र को अपनी पहली शादी की दीवानगी सताती है। लेखिका ने जहाँ एक तरफ ऋतु के विचारों के माध्यम से मनुष्य की भोगवादी प्रवृत्ति को दर्शाया है वहीं दूसरी तरफ रवींद्र के द्वारा मनुष्य की प्रेमानुभूति एवं व्यावहारिक जीवन की अनुभूतियों को।

बदलते समय और परिवेश के साथ मनुष्य अंदर-बाहर की लड़ाई से कुछ ज्यादा ही जूझ रहा है। नारी के समक्ष घर-परिवार, समाज-संस्कृति को लेकर अनेक उलझनें हैं, विशेषकर नौकरीशुदा नारी के लिए और भी, क्योंकि वह सामान्य नारी की भाँति चीजों से समझौता नहीं कर पा रही है। मनीषा ऋतु की उलझन भरी जिंदगी को देखकर कहती है कि ''ऋतु ऐसा सभी के साथ होता है, तू अकेली नहीं है। पर हम औरतें अपनी इस पीड़ा को किसी से कहती नहीं। सोच तो, हम कितनी वर्जनाओं में जीते हैं? क्या दैहिक संबंधों को लेकर कोई दूसरा रिश्ता बनाया जा सकता, जो कम अजकम शादी जैसे बंधन से दुटकारा दे दे? क्या इस सामाजिक संरचना में कुछ भी बचाया जा सकता है, कोई संबंध, कोई चीज या अपना आप ही··?'' जादवानी ने आज के समय और समाज की नब्ज को परखते हुए इस बात का अनुभव किया है कि अब स्त्री-पुरुष संबंधों की कोई नई आधारशिला रखनी होगी और कुछ नए मूल्य भी निर्धारित करने होंगे। आधुनिक सामाजिक व्यवस्था को अब और अधिक दिन पुराने मूल्यों पर नहीं चलाया जा सकता। शादी के मनादंडों को भी बदलना होगा। पहले की भाँति चीजें और संबंध हम पर आरोपित किए जा रहे हैं। जब नारी अपने जीने की अर्थवत्ता किसी पुरुष में ढूँढ़ने लगती है तो वह उसी क्षण अपने-आप को किसी यातना में फेंक देती है।

प्रस्तुत उपन्यास में जया जादवानी ने भारतीय संस्कृति, परंपरागत पारिवारिक एवं सामाजिक मूल्यों से जूझती हुई मध्यवर्गीय नौकरीशुदा नारी की जीवनगाथा को बनते-बिगड़ते नए मूल्यों के बीच परखा और जाना है, जिसमें घुटन-टूटन, मजबूरी और संघर्ष भरी ऋतु की जिंदगी में रोमांस के छींटे भी हैं। बीच-बीच में जीवन संदर्भों के नवीन विचार-बिंदु भी प्रस्तुत किए गए हैं जैसे कि मैं जो भी हूँ, अपनी मानवीय रचना हूँ और अपने पागलपन से अधिक कुछ नहीं हूँ। 'किसी और तरह से जीने की चाह ही आपसे सारे रास्ते तय करवाती है', 'किले के भीतर किला', मेरी जरूरत का चेहरा कितना अस्पष्ट है, आदि। ये विचार जीवन की अनुभूतियों से निचुड़ कर आए हैं जिससे कि उपन्यास को एक नई ताजगी मिलती है और निश्चित रूप से पाठकों के लिए प्रेरणादायक भी है। उपन्यास के पात्र अधिकांशत: अपने आपसे बात करते हुए नजर आते हैं। उपन्यास की शैली अलग ढंग की है। एक प्रमुख विचार के बाद पात्र का नाम एवं उसके कथन का स्वरूप अनवरत चलता है। बीच-बीच में दो पात्रों के बीच संवाद भी हुए हैं जहाँ स्त्री-पुरुष के जीवन यथार्थ के साथ रोमांस और वात्सल्य के भाव उभर कर हुए हैं।